माँ के लिए

- **जगदीश गुप्त**

नयी कविता प्रकाशन

नागवासुकी, इलाहाबाद

Copy right : लेखकाधीन

संसकरण : प्रथम, 1987

प्रकाशक : नयी कविता प्रकाशन

181ए / 1, नागवासुकी

इलाहाबाद-6

मुद्रक : एकेडमी प्रेस

दारागंज, इलाहाबाद

मूल्य : दस रुपये

❖

माँ के लिए

यह जो दीवार-घड़ी है
उस पर एक उदास गौरया
रोज़ शाम से आकर
गुपचुप बैठी रहती है—
घड़ी की तरह भूरी-मटमैली,
दीवार की तरह निरीह-निस्संग !
माँ हर बार कहतीं थीं
इस घड़ी को बदल दो,
इसमें मुझे समय
पहचाना नहीं जाता ।

एक तो मेरी बूढ़ी आँखें—

उसे देख नहीं पातीं,

दूसरे उसके धुँधले अंक

लाख सुनहले हों,

पर मुझे दिखयी नहीं देते ।

और हर बार, यह सुनकर मैं—

चुप रह जाता हूँ

कैसे कहूँ कि दोष घड़ी का नहीं

उनकी नज़र का है ,

समय का है ।

हाँ, उनसे नहीं

मैं मन ही मन

अपने से पूछता हूँ —

किसने समय को

सही-सही देखा पाया है ।

किसने चलती सुइयों का दंश

लगातार नहीं सहा ?

लगातार नहीं सहा ?

•

किस विडम्बना से आया है

इस बार नया वर्ष !

हम हर साल

सबको बधाई देते हैं

पर कभी देख नहीं पाते

कि हमारी ही उम्र का एक पड़ाव

चुपचाप किनारे की रेत बनकर

धार में खिसक जाता है ।

पृष्ठ संख्या : 2

उन्हें अकसर याद आ जाता था

'हम देखत जग जात है,

जग देखत हम जाहिं !'

और ऐसी न जाने कितनी पंक्तियाँ

मैंने माँ से ही सीखी थीं ;

न जाने उन्हें कितना याद रहता था !

•

चिता जलाकर लौटे हुए

अभी दसवाँ दिन ही तो हुआ है

पूरे दृश्य के भीतर से

उनकी यह पंक्तियाँ गूँजती रहीं

'हाड़ जरैं ज्यों लाकड़ी

केस जरैं ज्यों घास ।

सब तन जरता देखि कै---'

और मुझसे सचमुच ही नहीं देखा गया

वह दृश्य, उस दिन—

कबीर की तरह निस्पृह होकर ।

माँ, हमेशा अपने लड़के को भला

और दूसरों को ऐस-वैसा समझती थीं

चाहे वह उसके दोस्त ही क्यों न हों ।

पृष्ठ संख्या : 3

भारती और गिरधर तो
उनकी नज़र में
सबसे ज़्यादा छँटे हुए थे ।
न जाने उनके लड़के को बहका कर
कहाँ ले जाते थे रोज़ – रोज़ !

पर लम्बे इंतज़ार के बाद
जब वे उसे साथ ले कर लौट आते थे
तो मन ही मन कृतज्ञ भी होतीं थीं
ख़ुद बना कर चाय पिलाती थीं
और जतन से सहेजा
'परशाद' भी देती थीं ।

अब मैं उन्हें कैसे बताऊँ
कि साही और सर्वेश्वर की तरह
गिरधर भी नहीं रहा ।
वे होतीं तो शायद कहतीं
कैसे हैं तुम्हारे दोस्त
जो बीच में ही साथ छोड़ देते हैं ।
बिना कहे, बिना बताये !
आज वे स्वयं चली गयी हैं—
मेरे गये-गुज़रे दोस्तों के पास,
शायद उनसे मेरी शिकायत करने !
उस दिन केशव आये थे
काफ़ी देर साथ बैठे रहे

अपनी तीन माँओं की याद करते |

सबसे पहले भारती की माँ गयीं

फिर मेरी, फिर तुम्हारी,

अब 'परिमल' मातृ-हीन हो गया है ।

वैसी चिन्ता, वैसा स्नेह, वात्सल्य

फिर कहाँ ?

•

मैं बंद आँखों से भी

उन्हें साफ़- साफ़ देख रहा हूँ

उनकी खनकदार आवाज़

बराबर सुन रहा हूँ—

वे तन्मय हो कर गा रही हैं—

'कदम की छाँह हो,

यमुना का तट हो ।

गिरे गर्दन ढुलक कर पीत-पट पर ,

खुली रह जायँ ये आँखें मुकुट पर ।

अगर इस तौर हो अंजाम मेरा ।

तुम्हारा नाम हो और काम मेरा ।'

उनकी खुली आँखें,

सचमुच मुकुट पर टिकी रही होगी ।

मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ

कि उनकी जुबान पर भले ही
कृष्ण का नाम हो

पृष्ठ संख्या : 5

पर उनके मन में

उनके 'गुरुदेव भगवान' की छवि होगी

सहजोबाई की वाणी

उनके कंठ में बसी थी

....'गुरु न तजौं , हरि कौ तजि डारौं ।'

नाती होते ही

मेरी माँ को पर लग गये ।

तुतली बोली में

एक नाती कहता है ....

नानी तो मर गयीं ।

दूसरा कहता है , नहीं ,

नानी तो उड़ गयीं ।

हमारे होते ही

उन्हें पंख जो लग गये थे ।

•

मेरी ओर देख कर

गाय की तरह

निहाल होती हुई

वे कह उठती थीं

मेरा बेटा ! मेरा बच्चा !!

पृष्ठ संख्या : 6

जानता नहीं,

मेरी सात संताने हुई

छः नही रही,

एक तू ही बचा है

और अब

तेरे छः बच्चे हो गये हैं

देख तो—

मेरे सात के सात पूरे हो गये |

उनका परितोष

उनका संतोष

बार बार

आँसू बन कर छलक उठता था |

मुझे लगता है ,

इतने बच्चों का होना

माँ को कभी बुरा नहीं लगा |

वह माँ ही क्या—

जिसको बच्चे का जन्म न भाये |

उनका निर्मल वात्सल्य

गंगा की धार की तरह

अजस्त्र बहता रहा

मेरे भीतर, मेरे बाहर

और मैं गंगा के पार से

अपनी स्मृति से उठती हुई

एक खोयी हुई आवाज़

फिर सुन रहा हूँ —

बाढ़त आवै हो , गंगा रे मैया,

ओदरत आवै कगार हो ,

पृष्ठ संख्या : 7

बूड़त आवै हो , मालिन की छोहरिया
पान-फूल उतराहिं रे |

•

उनके शरीर पर लिपटी
रामनामी चादर के ऊपर
सजाये गये पान-फूल
सचमुच वैसे ही लग रहे थे |
मेरी माँ उस समय
लोक-गीत बन गयी थी—
जो मेरे भीतर
युगों-युगों से
उमड़ता रहा—
गंगा की धार की तरह
और आज भी
गंगा-पार से आती हुई
उसकी धुन
अनायास कानों में गूँज जाती है |
ऐसा लगता है
माँ की नज़र
मेरे रचना-कर्म में समा गयी थी |

पृष्ठ संख्या : 8

जन्म के साथ
उन्होंने ही दिया मुझे

भाषा का संस्कार ,

कविता की समझ

और आदमी की पहचान |

हाँ, चितेरा भी मेरे भीतर था

उसे माँ ने अपनी स्मृतियों में सहेज रक्खा था |

जो नक्श उनके मन में बन जाते थे,

वे कभी मिटते नहीं थे

मेरे स्मृति तो बीच में डूब गयी थी

पर उनकी याद वैसी ही बनी रही

अंत तक !

मैं किस नज़र से उन्हें देखूँ

किन शब्दों मे उन्हें बांधूँ

वे तो मेरे देखते-देखते

निर्बन्ध हो गयीं

अपने आप !

•

असंख्य अभिलाषाओं की मूर्ति थीं

मेरी माँ — निरन्तर संकल्पशील,

निरन्तर कर्मशील

कुण्डलिनी की तरह

—असीम सम्भावनाओं भरी |

कितनी सक्रियता, कितनी जीवट ,

उन्होंनें किसी से—

कभी हारना नहीं जाना,

पर अंतत: कैंसर से हार गयीं !

या शायद अब भी उससे लड़ रही होंगीं—

अपने लिये भी , औरों के लिये भी |

•

भीतर-भीतर

वे मृत्यु को वरदान मानने लगीं थी,

कभी-कभी

कभी सहजता से—

कभी व्यंग से—

हड्डियों के अंदर

तीखी चुभन

टीसता दर्द

शिराओं में घुलता ज़हर !

पृष्ठ संख्या : 10

छटपटाहट के बाद

और दूनी छटपटाहट

ज़िन्दगी और मौत के बीच

उगती हुई सीढ़ियाँ

गिरता हुआ विश्वास

एक अंध-कूप के भीतर

समाता हुआ भय !

एक विचित्रता के साथ

होनी को हमने

प्रत्यक्ष घटित होते हुए देखा है |

कहनी–अनकहनी के साथ

अपने बेटे के ब्याह के लिए
माँ का कितना अटूट आग्रह था,
वैसे ही, जैसे बेटे के बेटे के लिए
हो गया था, अंतिम दिनों में |
अन्य मनस्क मैं
उनकी वाणी के वाणों से
पराजित हो ही गया |
बेटे के संदर्भ मे नहीं
अपने संदर्भ में |

पर उनकी विजय
अभिज्ञप्त ही रही |
मौन अशांति के साथ
एक शांति-पाठ बन गयी
हमारी ज़िन्दगी |
बाहर से रामायण
भीतर से महाभारत !

'रामायन सिख अनुहरत
जग भयो भारत-रीति |'
तुलसी का कहा—
सब कहीं दिखायी देने लगा |
और कबीर का भी —
'सब जग जलता देखिया
अपनी अपनी आगि |'

देखते - देखते

अपनी ज़िंदगी

पोथियों की ज़िन्दगी हो गयी |

रामायण ने कहा—

सौभाग्यवती है तो उसे सीता कहो

महाभारत ने कहा—

द्रोपदी तो क्या गांधारी भी नहीं कहूँगी !

कहीं आकाशवाणी हुई—

आपने प्रेम की नहीं,

कर्तव्य की बेल बोई थी

आज वह भी विषाक्त हो गयी है |

अहंकार से अहंकार लड़ता रहा ,

पिसता रहा स्वाभिमानी व्यक्तित्व !

फिर भी बना रहा सबका अस्तित्व !

किमाश्चर्यमतः परम् !

लेकिन अंततः

आपस में इतनी एकता हो गयी

इतनी आत्मीयता

कि विश्वास नहीं होता

स्वयं मुझे ही !

आश्चर्य भी, विस्मय भी !

यह देश विचित्र है, और मेरा घर भी ,

यहाँ कभी-कभी रामायण भी जीत जाती है !

सोचता हूँ

या तो पिछला सब कुछ झूठ था
या बाद में जो कुछ हुआ वही अलीक था |
सत्य और असत्य के बीच ,
कैसे बना रहा हमारा अस्तित्व ,
मैं स्वयं नही जानता |
सत्य को खंडित नहीं किया जा सकता ,
और न विरोधों का सर्वथा शमन |
उसे स्वीकार ही किया जा सकता है,
अंततः उसकी पूरी
विरुद्ध-धर्माश्रयी अखंडता में |
पर उसके लिये
आदमी का कलेजा
बहुत बार छोटा पड़ जाता है |

मैंने भी
अपनी शक्ति भर
सब कुछ स्वीकार किया
सुख भी, दुख भी
अनुकूल भी, प्रतिकूल भी
दोनों कूलों के बीच ही तो
धारा का बहना सम्भव हो पाता है ,
और सार्थक भी |
क्रिया-प्रतिक्रिया में ही

धारा की शक्ति उभर पाती है

जीवन के

सम-विषम,

अनुभवों के बीच,

और मुझे लगता है—

धारा का अस्तित्व ही

माँ का अस्तित्व है |

कभी –कभी उलाहने के साथ

माँ कहती थीं—

“तुम्हारे लिए

मैनें दर-दर की ठोकरे खायीं

और तुम -----|

—कितना अनकहा

रह जाता था

उनके तीखे उद्गारों के बीच |

एक ऐसा संतोष

जो असंतोष की ही वाणी जानता था |

कभी करुणा, कभी ममता

कभी आहत वात्सल्य !

उनकी कही हर बात

कहाँ मान पाता था मैं, चुपचाप !

उनका हर विचार

कहाँ हो पाता था मुझे स्वीकार !

पर मैं शांत होने पर

स्वयं सोचने लगता—

मुझसे नहीं तो

किससे कहेंगी वे अपनी बात

पृष्ठ संख्या : 14

किसके आगे खोलेंगी,

खूँट में बँधी अपनी गाँठ !

मैंने कभी नहीं मानी

उनकी दर-दर ठोकरें खाने की बात

हर दर पर उन्हें—

और उनके कारण मुझे भी

आत्मीयता के साथ

पनाह मिली है |

मैं उन सबका कृतज्ञ हूँ

जिन्होंने मुझे सहारा दिया ,

विद्या दी

और सीख भी |

ठोकरों की बात

वे इसलिए कहतीं थीं शायद

कि वह—

उनके वैधव्य का

एक मुहावरा हो गयी थी |

और इसलिये भी कि—

अपने बेटे के बनाये घर को

वे आश्रम की कुटिया नहीं मान सकीं |

जवाब में जब मैं उन्हें उलाहना देता

तो वे हँस देती थीं |

•

पृष्ठ संख्या : 15

होता ही क्या है—
भट्ठी में तपते लोहे पर
पानी की एक बूँद का अर्थ |
मतलब ही क्या है
बालू के महासागर में
एक सुखती हुई लहर का |
विराट शून्य के भीतर
क्या होता है
एक बुझते हुए तारे का अस्तित्व !
अपने भीतर से ही उपजता है
सब का रूप, सबका अर्थ
नहीं तो सब कुछ निस्सार ,
सभी कुछ व्यर्थ !
आदमी अपने भीतर का अर्थ भी
स्वयं ही खोजता है ,
प्रश्न पर प्रश्न पूछता है—
पर अपने-आप वह अपने से निरंतर
कितनी दूर देख पाता है,
अपने भीतर का आकाश |
उसे ही उगाना होता है
वहाँ का सूरज
खुद उसे ही बनना होता है

वहाँ का प्रकाश

और फिर महसूस करना होता है

वहाँ अपना डूबना

अपने ही क्षितिज में |

पृष्ठ संख्या : 16

माँ मेरा क्षितिज थीं ,

मैं न जाने कितनी बार

उनमें डूबा हूँ, उतराया हूँ,

उनके साथ

ज़िंदगी का बड़ा दौर

पार कर आया हूँ |

अब भी उनकी धार

मेरे रक्त के भीतर बह रही है |

•

अपने से ऊब कर

माँ ने अपने बाल

खुद काट दिये थे

एक दिन |

वह दिन

अचानक यों ही नहीं

आ गया होगा

मन में कुछ हुआ होगा ऐसा

कि अपने आप

उँगलियाँ कैंची बन गयी होंगी |

रूखापन बेहद चुभने लगा होगा

पृष्ठ संख्या : 17

कंधों पर, पीठ पर और गर्दन पर |

कौन बार- बार तेल ठोंके

कौन बार- बार कंघी करे |

बालों की सफेदी

देखी नहीं जाती !

न जाने कितनी बातें

याद आ जाती है अनायास,

उनके बाल भी कभी काले थे |

लटकते हुए बालों से

साँप चढ़ आयेगा

किसी दिन !

उन्हें याद आ जाती है

एक कहानी

सोते-सोते

किसी साँप ने

डस लिया था उसे

जो पलंग पर

बेहोश सो रही थी |

उनकी आवाज़ टेप कर ली गयी है

अब वह साँप

सदा उन्हें डसता रहेगा

आवाज़ के सहारे |

शायद इसी से

उन्होंने अपने बाल
काट दिये होंगे ,
ऊब कर नहीं—
मौत से डर कर |

पृष्ठ संख्या : 18

मैं सोच भी नहीं सकता था
मेरी स्वर्गकामी माँ
मेरे सामने ही
ऐसी नारकीय यातना सहेंगी !

उनका कैंसर बनेंगे
देह पर रेंगते हुए
नरक के कीड़े |
रात की सियाही में
मैंने कई बार ढूँढ़ा है
आसमान की छाती को —
तेज़ी से चीरती हुई
उनकी चीख़ों को |

मुझे अपनी आँखो पर
विश्वास नहीं हुआ
कि यज्ञवेदी-सी पवित्र
मेरी माँ की काया
इतनी कुरूप हो जायेगी
यहाँ तक कि लोग

मेरे शुभ-चिंतक होकर,

मुझे उनकी छाया से

बचकर रहना सिखाने लगे |

पर मैं कैसे भूल सकता था

कि मैं भी तो

उनका काया-जात जीव ही हूँ |

उन्हीं से उपजा—

कीड़ा हूँ तो कीड़ा !

आदमी हूँ तो आदमी !

आज भी मेरा क्लेश बन जाती है

लोगों की सोची हुई बात |

अपने सामने

मृत्यु होते हुए देखना

उसे सहने की शर्त नहीं होती |

बचाने की कोशिश में विफलता भी ,

अपने अंदर ही अंदर—

एक दूसरी मृत्यु बन जाती है |

•

गोद में उठाने वाली माँ को

गोद में उठाने का अनुभव !

उनके बीमार-निढाल शरीर को

अपनी जागती-सोती बाँहों में

—सहेजने का अनुभव !

अपनी ही छाती पर, देर तक

उनके सिर टिकाये रहने का अनुभव !

पृष्ठ संख्या : 20

मेरे मन में

उनके प्रति

अजब-सा भाव उत्पन्न करता है ,

जिसमें एकात्मता के साथ

विडम्बना भी रहती थी,

और ममता के साथ

निरीहता भी |

उनकी बंद आँखों के भीतर

मेरे छोटे से अकस्मात

बड़े हो जाने का अनुभव

मेरे और उनके मन में

रचती है अंतहीन

अनुभवों की शृंखला,

जहाँ मै बड़ा होते हुए भी

बार-बार छोटा हो जाता हूँ—

उनके हृदय की विशालता के आगे |

आज भी,

घड़ी पर बैठी हुई गौरैया की तरह

वे मुझे उसकी धड़कनों में—

समाती हुई लगती हैं |

और मैं उनके धक्-धक् करते वक्ष में
अपना सर फिर से छुपाने के लिए
आतुर हो उठता हूँ |

पृष्ठ संख्या : 21

जहाँ से पहली बार मुझे स्पंदन मिला ,
जिनकी गर्भ-रचना के भीतर
मेरा हृदय बना,
वह ज़मीन मे कैसे छोड़ सकता हूँ
जिस पर मैं पैदा हुआ !
अपनी और उनकी धड़कनों को
मैं स्वयं अपने भीतर—
गुँथा हुआ पाता हूँ |
आज भी
मेरा व्यक्तित्व
मेरा अस्तित्व
माँ की गोद में
समाया हुआ लगता है |

उनकी साँसों में
मेरी साँसें बजती हैं ,
और उनकी धड़कनों में
बोलती हैं, मेरी धड़कनें !

•

उनके न रहने पर
मेरे भीतर

एक अपराध- भाव
जन्म ले रहा है |
मुझे लगता है
उनकी जिजीविषा
कई बार
मेरी कठोरता से
अपमानित हुई है |

उनकी यातना को
मैं वह सहानुभूति नहीं दे सका
जो वह केवल मुझी से चाहती थीं |
न जाने कितनी बार
मेरा स्वभाव
उनके स्वभाव से
टकराता रहा ,
मेरे विचार
उनके विचारों से
उलझते रहे,

मेरा संवेदन
एक जगह ले जाता था ,
उनका, दूसरी जगह |
इस खाई को पाटने में
कितना श्रम लगता था

मुझे भी और उन्हें भी,

कितना समय लगता था

दोनों को सहज होने में |

पृष्ठ संख्या : 23

मैं तो यही जानता था

कि सेवा सुश्रूषा

समानार्थी शब्द हैं,

पर वे अनुभव में

कितने दूर हो जाते हैं

यह मैंने कभी नहीं जाना |

सुश्रूषा के आगे

टूटने लगता है

सेवा का अहंकार |

कठिन हो जाता है

बार-बार उसी बात को सुनना

जिसका दोषी

वह आदमी नहीं है

जो सामने है |

उसके बाद भी सेवा !

उसके बाद भी स्नेह !!

उसके बाद भी आत्मीयता !!!

कभी तेज़—

चिलचिलाती हुई धूप में
किसी छतनार वृक्ष के नीचे बैठकर
जब मैं उसकी जड़ो की ओर
ध्यान से देखता हूँ

तो मुझे उनमें समायी हुई
वह छाया याद आ जाती है
जिसे 'माँ' कह सकता हूँ |

पृष्ठ संख्या : 24

युगों-युगों की आनुवंशिकता
उसी की धमनियों में
प्रवाहित होती रही है |
और मुझमें भी है |
उसका न रहना
सृष्टि का न रहना है |
परंतु माँ ही ऐसी दृष्टि बन जाती हैं—
जिससे सृष्टि
कभी समाप्त नहीं होती |
बाँझ कहना
आज भी
नारी का सबसे बड़ा अपमान है
माता ही पहचानती है
सृष्टि से
लगाव और अलगाव का मर्म !

माता ही सहेजती है

अपने स्वरूप में, सृजन का धर्म !

इसीलिए, एक बिंदु पर—

उसका खोना, खोना नहीं है,

उसका न होना, न होना नहीं है |

नासतो विद्यते भावः

नाभावो विद्यते सतः

•

पृष्ठ संख्या : 25

कितना असह्य होता है

अपने ही अनस्तित्व का भय !

पर वे देखते-देखते

उससे भी निकल आतीं थीं |

मैं आश्चर्य से

उनकी आँखों में देखता था

पान-फूल की तरह

पानी पर तैरती हुई

उनकी जिजीविषा !

परन्तु अंततः

वे आँखें भी उस दिन

डूबने लगीं थीं- हताश !

रात के पिछले पहर से

पलकें बंद होना भी—

रुक गया था |

....देखि लीजौ आँखि ये खुली ही रहि जायँगी !

देखा नहीं गया तो

मैंने ही हाथ से

उनकी पलकें बंद कर दीं |

हाँ, कुछ कहने की मुद्रा में — मुँह

खुला का खुला ही रह गया |

क्या इसीलिए

स्वामी जी के अनेक चित्र

उन्होंने अपने सामने

मेज़ पर रखवा-लिये थे |

एक को देखना

एक से कुछ कहना

एक के आगे मौन हो जाना |

'जित देखौ तित स्याममयी है |'

पहली बार

पैरों में वरम देखा तो कहा

'अब दवाई देना बंद कर दो

अब मैं नहीं बचूँगी'

पर मैं उसके बाद भी

उन्हें दवाई देता रहा

और वे पीतीं रहीं

कभी भूल जाता था

तो वे खुद याद दिला देतीं थीं

पर किसी समय तो अंत होना ही था

उनके विश्वास का नहीं

निःश्वास का |

इस देश की मिट्टी से उपजे

हर मन में कहीं न कहीं

गोदान समाया रहता है,

जाने-अनजाने

हर एक की आत्मा

होरी बन जाती है |

मेरी माँ भी

कागज़ पर लिखकर

छोड़ गयी हैं—

प्रेमचंद की भाषा में

गोदान का अंतिम पृष्ठ

‘मत भूलना

गाय को सेंदुर चढ़ाना,

उसके खुरों और सींगों को

चांदी-सोने से सजान,

दो रामनामी अचले

छोड़े जा रहीं हूँ,

एक गाय को उढ़ाना

एक मुझे |’

उनकी लिखी

सारी बातें तो मैं

पूरी नहीं कर सका
पर हाँ, उनके शरीर पर
उनकी बहू ने
एक रामनामी अचला
अवश्य उढ़ा दिया |
उनके निकट गाय अधिक पूज्य थी
पर मेरे निकट वे |

गाय से अधिक पूज्य लगती हैं माँ |
मुझको देखकर वे कह उठती थीं
'मेरा बेटा | मेरा बच्चा !!'
अब कौन कहेगा मुझसे
उस तरह दुलरा कर
वैसे जीवंत शब्द !

•

पृष्ठ संख्या : 28

इतनी उमर के बाद भी
अकसर ठन जाता था,
छोटे भाई और बड़ी बहन का युद्ध !
माँ के मायके में बचे दोनों ही
कलाकार थे —
अपने –अपने ढ़ग के |
भाई कहता—
गुरुदेव गुरुदेव हैं, माना
पर उन्हें भगवान क्यों कहती हैं आप ?

बहन कहती

तुम नास्तिक हो,

क्या यही पढ़ाते हो अपने शिष्यों को ?

मुझमें दोनों का द्वन्द्व

और दोनों की रचनशीलता

अपने आप उतर आयी है

चने के बीज की तरह |

अपने गुरुदेव से दीक्षा दिलाना

माँ की सबसे बड़ी कमजोरी थी,

और शक्ति भी |

पर हम दोनों ने, उस मार्ग को

उनके लिये ही रहने दिया ,

मैंनें विनय के साथ !

उन्होंने अनय के साथ !!

अन्तिम-युद्ध के बाद

माँ बीमारी में भी,

उनसे मिलने नहीं गयी

पर जब वे नहीं रहे

तो माँ मौन हो गयीं

मानों उन्होंने हथियार डाल दिये हों

कलाई पर बाँधी राखी की याद में |

जब न गुरुदेव रहे, न भाई

तो कैसा संघर्ष, कैसी लड़ाई !

पर छोटे भाई का

अपने से पहले जाना

उन्हें और भी सालता रहा |

तन के असाध्य रोग से बड़ा निकला—

मन का दोहरा आघात !

वे बतातीं थी—

पहली बार माँ बनने के बाद

कैसी रही उनकी ज़िंदगी !

कुछ कच्चे मरे

कुछ पक्के मरे,

एक पेट में रहता—

तो एक मसान में !

सुहागिन होकर भी अभागिन !

एक बच्ची

कुम्भ-मेले में गयी

एक ब्याहता,

तपेदिक में |

लड़कों में बचा एक 'तू'

पृष्ठ संख्या : 30

अपने 'ग्लैक्सो बेबी' से

डब्बा छिपा कर रखती थी माँ

पर वह माखन चोर उसे—

चुपके से खा ही जाता था |

गोद में खिलाने वाले,

मोहल्ले के लोग
मुझे चौबे कहते थे,
और लाड़ से भर कर
कभी-कभी मेरे बाबू भी |
मेरी माँ को सब कुछ याद है
गाँव में मेरी 'गडुइया' का खोना भी
पतंगबाजी में मेरा छत से गिरना भी
कैसे मैं चुप हुआ
कैसे ज़िंदा बचा !
वही बता सकती थीं |
मेरी तरह ही
उनका खीझना और रीझना
एक साथ होता था,
और यह क्रम—
अंत तक चलता रहा |
मुझसे बेहद नाराज़,
मुझसे बेहद प्रसन्न !
माँ कह रही हैं
तुम्हारे बाबू से भी
मेरा बराबर झगड़ा होता था,
जब वे ताश-पचीसी में
बेहद डूब जाते थे |

करवाचौथ को वे सारी रात नहीं आये,
मेरी पूजा धरी की धरी रही |

क्रोध में मैंने कह दिया
ऐसे सुहाग से बिना सुहाग ही भली
और सचमुच वह दिन फिर कभी नहीं आया;
अगला साल, उनका काल हो गया |

सनातनी संस्कारों में रसे-बसे
उपजे थे मेरे पिता
मंदिर के उत्सव की तरह |
क़स्बे में रहते हुए भी
नगर-कीर्तन बन जाते |
कभी रामनवमी और भरत-मिलाप हो जाते
कभी जन्माष्टमी में चरणामृत,
कभी दधिकाँदौ में
हल्दी मिली दूध की धार हो जाते,
कभी शिव-रात्रि में
विल्व-पत्रों भरा निर्माल्य !
अब भी पूजा-आरती के समय वहाँ
उनकी प्रतिध्वनि सुनायी दे जाती है |
शरद-पूर्णिमा में वे 'कल्पवृक्ष' बन जाते थे
माँ प्रतीक्षा करती थीं
प्रसाद की लूट के साथ
उनके आने की—
रात भर, प्रति वर्ष |
ज़मीदार घराने की
गिरती हुई दीवारों पर

पृष्ठ संख्या : 32

उन्होंने ने बरसों तक देखी थी |
शाहाबाद की मिट्टी में
उगाया था उन्होंने 'कंचबाग' |
उनकी घनी भौंहों पर उभर आयी थीं
बेटी के ब्याह की काली रेखाएँ !

स्मशान उन्हें पहाड़ पर ले गया |
मेरे बचपन को बरसों तक लगता रहा
वे मरे नहीं हैं
सिर्फ़ सोये हुए हैं—
सफ़ेद चादर ओढ़ कर !
रहल के ऊपर रक्खी
रामायन की पोथी की तरह
माँ उन्हें पढ़ रही हैं,
वैधव्य की अर्धशती बिताकर
अपने पूजा-घर में |

•

अपने ब्याह में माँ
इतनी छोटी थीं
कि दरवाजे पर चढ़ी बारात
खुद देखने आ गयीं, छज्जे पर |

पृष्ठ संख्या : 33

देखने की बात भी थी

रुपयों से सड़क पट गयी थी
तीन-तीन हाथियों पर चढ़े उनके ससुर
तब तक थैलियाँ लुटाते रहे
जब तक उनके सामने आकर
बेटी के बाप ने खुद हाथ नहीं जोड़े |

किसी ने डाट कर कहा — नीचे चल !
तू यहाँ क्या देख रही है !
और डरी - डरी सी माँ
अपनी सहेलियों के साथ,
जीने से नीचे उतर गयीं
सहमती, सकपकाती हुई |
आठ साल की माँ को, सात फेरे
गोद में उठाकर ही कराये जा सके |
उनका बचपना
ससुराल जाकर भी
वैसा का वैसा ही बना रहा |
'कहि कौन हैं, मेरे वे कौन लगैं,
जिनके सँग खेली हैं भाँवरियाँ |'

•

कहाँ गोबर-लीपी धरती
कहाँ सवाय होटल में
बाल डाँस का जगमगाता हाल !

कहाँ शाहाबाद की ऊबड़-खाबड़ गलियाँ

कहाँ मसूरी की चिकनी-चुपड़ी सड़कें !

कहाँ नाना जी के साहबी ठाठ

मुलायम टोस्ट-बटर

कहाँ कड़े की आग में

घए की सिंकी रोटियाँ |

कितनी शान से रहते थे मेरे नाना

कभी घोड़े पर, कभी फ़िटन पर

मेमें ही सजा-सवांर कर

दोनों बहनों को साथ ले जाती थीं|

जेबों में भरे रहते थे चाकलेट-बिस्कुट-टॉफ़ी

घरों में जब कोई नहीं जानता था

उनका स्वाद !

•

पृष्ठ संख्या : 35

उनकी वह पूजा की कोठरी

यानी पूजा-घर

न जाने कितनी चीजों का संग्रहालय था

लगता है उनके भीतर से ही आयी है मुझ में—

ऐसी संग्रह-वृत्ति !

जिसे वे सब जगह खोज कर हार जाती थीं,

वह भी उनके भीतर की कोठरी में मिल जाता था |

वह कोठरी

शायद पुश्तैनी कोठरी की तरह थी

जिसमें सारे-कुल-देवता वास करते हैं
और जो कभी खाली नहीं होती थी|
आज लगता है, वे स्वयं भी
उन कुल-देवताओं में समा गयी हैं |

पृष्ठ संख्या : 36

उनके भीतर कितनी यादें समायी रहीं
और कितने रूप !
टोपा साहेब, असदली खाँ, पतराखन
मनके, किक्का और न जाने कितने नाम
घर के, आश्रम के,
सबकी पहचान, सबकी चिंता,
सबसे हड़क के बात |

रामसरन कह रहा है—
'माता जी सपना हो गयीं'!
उन्हें सपने में देखकर
वह अपने आप कौआने लगता है

उसकी आवाज़ सुनकर लोग
जाग जाते हैं, सोते से |
पर मैं हूँ कि
अभी तक एक बार भी
उन्हें सपने में नहीं देख पाया |
लगता है उसकी निष्ठा
मुझसे कहीं अधिक थी |

माँ कम्पाउण्डर को 'जमदूत' कहतीं थीं,

पर उसे नहीं |

•

पृष्ठ संख्या : 37

उसे अब भी लगता है

दादी यहीं कहीं हैं

वे अभी आती ही होंगी |

आज भी वह उनके चित्र के आगे

फूल रख जाता है,

सबेरे-शाम, अगरबत्ती भी जला देता है |

•

ब्रज भाषा का संस्कार भी

लगता है, मुझे मेरे माँ से ही मिला |

वे पूरे कंठ से सवैये सुनाने लगती थीं,

तरह-तरह के शब्द,

तरह-तरह की पंक्तियाँ,

तरह-तरह का आरोह-अवरोह !

हफ़ीजुल्ला खाँ के हजारे में आये छंद

जैसे भी उन्हें याद रहे—

'होशम रफ़त न मुन्द वज़फ्त,

शुदा दिलमस्त, ज़िदीदानी सूरत |

मुसुकाइ के मो तन हेरि दियो,

तिरछी अखियाँ चितवन को मरूरत |'

पृष्ठ संख्या : 38

और उन्हें 'लिलहारी लीला' भी याद थी

'नासिका नाम नरायन को,

दोउ ओंठन पै लिखि दे बनवारी |

ह्वै के अधीन सबै लिखि दे

सुनु ऐ लिलहारी की गोदनहारी |

(.....)

तुम काहे को भेस बनावत नारी |'

नारी-वेश-धारी कृष्ण की रासलीला भी

उन्हें अनायास सिद्ध थी |

•

माँ का जीवन

लगातार यात्राओं में ही बीता,

पर इस बार की यात्रा में

उन्होंने कोई सामान नहीं बाँधा

कोई तैयारी नहीं की,

उनका बक्स, उनका होल्डाल,

उनका कम्बल, उनकी चादरें

उनका झोला, उनकी माला,

सब जैसे के तैसे पड़े रहे |

मुझे लगा

माँ इस बार इतनी हड़बड़ी में थीं

कि अपना सामान तक

ले जाना भूल गयी

'शोभकर्ण' के नाम पर

मैंने उनकी सारी चीजें
दसवें के दिन, महाब्राह्मण को दे दीं |
नागवासुकि मंदिर पर
उनके नाम से घंट बँधा
घंट के भीतर दिया जला
'महाघोर नरक निवारणार्थ'
नौ दिन तक
प्रतिदिन बढ़ती हुई संख्या के क्रम से
'तिल-तोय-अंजलि' दी गयी
मुन्नन महराज की घनी मूँछों से भयभीत
सारे मंत्र काँपते रहे |
इस बार माँ के ब्राह्मणवाद से
मैंने कोई बहस नहीं की
लोक-विश्वास के रूप में
विधिवत तेरह ब्राह्मण भी खिला दिये
और एक ब्राह्मणी भी |
यह दूसरी बात है कि उनका विश्वास
मेरा विश्वास नहीं हो सकता |
पर मेरा मन कहीं न कहीं
कचोट ज़रूर रहा था |
वस्तुत: माँ का श्राद्ध
मैंने माँ के विश्वास से किया
अपने विश्वास से नहीं |
जैसे माँ मुझसे बड़ी थीं,
वैसे ही उनका विश्वास भी

मुझसे बड़ा था |

पृष्ठ संख्या : 40

मंत्रों का उच्चारण

मुझे अच्छा लगता है

पर मैं यह भी जानता हूँ

कि केवल मंत्रों के सहारे

जीवित नहीं रह सकता

यह ब्राह्मणवाद

जो आज के युग में—

आस्थाहीन कर्मकाण्डभर रह गया है !

मेरी आत्मा का स्वर

आज भी शम्बूक का स्वर है

और आगे भी रहेगा |

मेरे लिए माँ-शब्द

मनुष्यता का पर्याय है |

माँ का सम्मान

मनुष्यता का सम्मान है |

उस दिन शाका ने कहा था

माँ के पैरों के नीचे

जन्नत रहती है |

मैं यहाँ का लोक-विश्वास भी जानता हूँ

और इस बात का मर्म भी—

'दैउ के बरसे

माई के परसे'

कितना सहज होता है

माता का स्पर्श,

और कितना अलभ्य भी

देखते देखते

माँ स्पर्शातीत हो चुकी हैं |

पृष्ठ संख्या : 41

आज वह अनुभव मेरे लिए

केवल अलभ्य रह गया है |

•

वे ऐसी 'शुक्रतुल्या' थीं

कि भृगु-वाणी को

उन्होंने बीस सालों तक लगातार

झुठलाये रक्खा;

'मृत्युश्च जननी दृशेत'

जहाँ लिखा था,

वहीं लिखा रह गया |

वे इसे आजीवन

गुरु-कृपा ही मानती रहीं |

पर जब स्वयं गुरु ही दिवंगत हो गये

तो उनका वह विश्वास भी टूट गया |

हाँ भृगु के कुछ शब्दों को

उन्होंने सार्थक भी किया—

'साधु-सेवानुरक्ता च

साधु मध्ये वसेत् सदा |'

कितना सटीक था यह वाक्य

और "तीर्थाटने मतिस्तस्या कहना भी |

घरेलू राजनीति में भी
उनके स्वभाव की पहचान
कितनी सही निकली
'.....मानिनी चाधिकारिणी,
....तस्मात् कलहं परस्परम् |"
और अंततः यह बात भी सही थी
'.....कष्टात्कष्टतरंभूयात्'
पर आश्चर्य है,
'कैंसर' के लिये
भृगु के पास कोई शब्द नहीं निकला |

माँ नैमिष से पंडित बुलाकर
भागवत सुनतीं हैं |
माँ 'गजेंन्द्र-मोक्ष-स्तव'
मँगातीं हैं, पढ़ती हैं ,
कभी मन में
कभी गुनगुनाकर,
धीरे-धीरे उन्हें याद हो जाते हैं
उसके कई श्लोक |
पर वह अनुष्ठान भी
उन्हें मुक्ति न दिला सका !

लेकिन इस बार उनकी आस्था पर
तनिक भी आँच नहीं आयी

उनके मन में समाया रहा

यही दास्य-भाव,स्थायी रूप से—

'है प्रभु मेरोई सब दोस'

सूर के पदों से कितनी शक्ति मिलती थी उन्हें !

और कितनी मीरा के पदों से !

पृष्ठ संख्या : 43

'हरि तुम हरो जन की भीर !'

उनके भीतर घुमड़ते रहते थे |

'पथिकोद्गार'

गीता-रामायण के साथ

'योगवासिष्ठ' और 'दास-बोध' की गूँज भी

शंकराचार्य के स्तोत्रों की अनुगूँज भी

मैंने उनके दूध के साथ

इन सब को भी पिया है

आज उनकी छाती भले ही सूख गयी हो

पर उनके हृदय का रस, सीझ कर

मेरे भीतर समा गया है, अपने आप |

भक्ति-रस की अचूक पहचान, गहरी स्वानुभूति,

उन्होंने ही दी थी मुझे |

जिनके लिए रही हों, हों,

पर मेरे लिए वे कभी 'सूखी अम्मा' नहीं थीं |

•

न जाने कितने रूपों में माँ

मुझ तक आती हैं

मायके में माँ, ससुराल में माँ,

घर-गिरिस्ती में माँ

कुल-परिवार में माँ

आश्रम में माँ, यात्राओं में माँ

और अपनी अंतिम यात्रा तक

माँ मेरे साथ रहीं |

पर क्या कोई ऐसा भी समय आयेगा

जब माँ मेरे साथ नहीं रहेंगी

मेरी स्मृति में भी !

मेरी कृति में भी !

मृत्यु भी माँ बन जाती है,

जब कोई बच्चा बन कर

उसके पास आता है !

तू धूल भरा ही आया

चंचल जीवन-बाल

'मृत्यु-जननी ने अंक लगाया'

महादेवी के साथ, —मुझे लगता है

वे अब भी उसी तरह बैठी हैं,

जैसे कई बार मैंने उन्हें देखा था |

जहाँ भी जीवन है

जहाँ भी जन्म है,

वहाँ माँ होगी ही,

माँ तो साँपों में भी पूज्य है
माँ स्वयं काल नहीं हो सकती !
जैसे सृष्टि कालातीत है
वैसे माँ भी !
मैं उनकी डूबती हुई आँखों के भीतर
निर्निमेष झाँकता हूँ;
साँस की तरह
उनकी पुतलियाँ भी
रुकती जा रही है |

पृष्ठ संख्या : 45

पुतलियों की स्याही
धीरे-धीरे धुँधली पड़ने लगी है |
गहरे कुओं की सतह पर टिक कर,
मैं उनके झिलमिलाते जल में,
अपना प्रतिबिम्ब खोजने लगता हूँ |
तभी एक सूखी पत्ती,
चक्कर लगाती हुई
कुओं की असीम गहराई में
उतरने लगती है |

मुझे लगता है,
उस पत्ती के स्पर्श-भय से
जल नीचे उतरने लगता है;
और फिर
धीरे-धीरे सूखने लगता है—

पत्ते की तरह,

जो अंततः,

मेरी दृष्टि का पर्याय बन जाती है |

मैं प्रतिबिम्ब की जगह

घबरा कर

बिम्ब को खोजने लगता हूँ |

माँ की डूबती हुई आँखों के साथ

मेरी दृष्टि भी डूब जाती है

उन्हीं अँधेरे कुँओं में |

पर वे

देखते-देखते

उस भय से

बेदाग़ निकल आती थीं |

मैं आश्चर्य से

उनकी आँखों को देखता था,

निर्निमेष !

उनकी जिजीविषा

पान-फूल की तरह

उस दिन भी

पानी की अथाह

चादर के ऊपर

तैरती दिखायी दे रही थी |

अंतत:

उनकी आँखें

डुबने लगी थीं

अपने उन्हीं कुँओं के अँधेरे में |

रात के पिछले पहर,

एक सुनसान बियाबान में

मौत ने अपने काले पंख

फैला दिये थे—

उनकी डूबती आँखों पर |

देखते-देखते

पलक बंद होना भी

रुक गया था |

आँखें, खुली की खुली रह गयीं |

सहसा मुझे एक गूँज फिर सुनायी दी,

'बिनु प्रान प्यारे भये दरस तिहारे हाय,

देखि लीजौ आँखि यै खुली ही रहि जायेंगी |'

पृष्ठ संख्या : 47

माँ के कभी कहा था—

उनका जन्म

जिस दिन हुआ था,

संक्रान्ति थी |

आज उनके जाने के बाद

पहली बार वह संक्रान्ति आयी है
शायद उनको खोजने |
मैं कैसे कहूँ
कि मैं उन्हें बचा नहीं सका
उनकी छटपटाती हुई जिजीविषा
उनके भीतर अपना अर्थ खो चुकी थी |
मेरे देखते - देखते
वही अर्थहीनता मुझे लीले जा रही है—
मैं किसी को क्या उत्तर दूँ !

रामनामी चादर
गंगा जल बन कर
लहराने लगी है—
मेरे भीतर |
चादर पर पड़े पान-फूल
हरकत करने लगे हैं |
मैं उनकी सजीवता को
फिर से पकड़ लेना चाहता हूँ—
लहरों के भीतर समाकर |
यही होगा मेरा स्नान, मेरा माघ,
मेरी संक्रान्ति

•